हमारे समय की दो नायिकाएं

निकोलस क्रिस्टॉफ

© The New York Times 2019

ईरान की नसरीन और सऊदी अरब की लौजेन ने कट्टर और स्त्री-विरोधी व्यवस्था की परवाह न करते हुए महिलाओं के लिए काम किया है। ईरान ने नसरीन को अड़तीस साल कैद की सजा दी है, जबकि लौजेन के खिलाफ मुकदमा शुरू हुआ है। लौजेन को नोबल शांति पुरस्कार मिल सकता है, जबकि नसरीन भी इसकी हकदार हैं।

यह ताकतवर और डराने-धमकाने वाले लोगों का दौर है। ऐसे में आइए, दो शख्सीयतों से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। ये दोनों महिलाएं हैं, और इनमें से एक ने ईरान में, तो दूसरी ने सऊदी अरब में पुरुषवादी समाज की स्त्री-विरोधी सोच और तानाशाही को चुनौती दी है। ईरान और सऊदी अरब भले एक दूसरे के दुश्मन हों, लेकिन महिलाओं के प्रति बर्बरता का प्रदर्शन करने के मामले में दोनों ही एक जैसे हैं।

पचपन साल की नसरीन सोतौदेह एक लेखिका और मानवाधिकारवादी वकील हैं, जो ईरान में दशकों से महिलाओं और बच्चों के हक में लड़ाई लड़ रही हैं। उनके परिवार के लोगों ने बताया कि इस सप्ताह उन्हें और 33 साल जेल में रहने और 148 कोड़े खाने की सजा मिली। जबकि पांच साल की जेल की सजा वह पहले से भुगत रही हैं। ऐसे ही सऊदी अरब में उनतीस साल की महिला अधिकारवादी लौजेन-अल-हथलौल को महीनों कैद में रखने के बाद अब उनके खिलाफ मुकदमा शुरू हुआ है। कैद में रखने के दौरान उनका उत्पीड़न किया गया, जिनमें यौन उत्पीड़न, चाबुक से पिटाई और बिजली का शॉक देना आदि शामिल था। लौजेन की बहन ने बताया कि महीनों की यातना के बाद अदालत में उनके खिलाफ आरोपपत्र दाखिल किया गया है, जिसमें उन पर मानवाधिकार संगठनों से संपर्क रखने और महिलाओं को हमेशा अभिभावकों के अधीन रहने के सऊदी अरब के कानून की आलोचना करने के आरोप हैं।

नसरीन सोतौदेह

लौजेन-अल-हथलौल

मैंने इससे पहले प्रस्ताव रखा था कि लौजेन को नोबल शांति पुरस्कार मिलना चाहिए। शुक्र है कि इस बार इस पुरस्कार के लिए उसका नामांकन हुआ है। ऐसे में, कृपया मुझे अपने प्रस्ताव को संशोधित करने दीजिए : नसरीन और लौजेन, दोनों को अपने-अपने कट्टर समाज में पुरुषवादी सोच के खिलाफ जंग लड़ने के लिए नोबल मिलना चाहिए।

मुझे पता है कि मेरे इस प्रस्ताव के बाद मुझे ऐसी अनेक प्रतिक्रियाएं मिलेंगी, जिनमें यह कहा जाएगा कि मूल समस्या तो इस्लाम ही है। इस पर सभी लोग एकमत नहीं होंगे, लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि सऊदी शहजादे मोहम्मद बिन सलमान और ईरान के सर्वोच्च नेता अयातुल्ला अली खमेनई ने किसी भी दूसरे कट्टरवादी की तुलना में इस्लाम की छवि को ज्यादा नुकसान पहुंचाया है। अमेरिकी विदेश विभाग ने नसरीन को मिली सजा पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि इसके सामने बर्बरता भी फीकी है। लेकिन लौजेन के साथ हुए दुर्व्यवहार को अमेरिका बर्बर नहीं मानता, क्योंकि वह सऊदी अरब को अपना मित्र, जबकि ईरान को अपना दुश्मन मानता है। अगर आप उन्हीं देशों में मानवाधिकार की चिंता करते हो, जो आपके विरोधी हैं, तो वास्तव में आप मानवाधिकार की थोड़ी भी चिंता नहीं करते हो। लौजेन की बहन का कहना है कि सऊदी शहजादे ने उसे एक माफीनामे पर दस्तख्त करने के लिए कहा है, जिसके बाद लौजेन का उत्पीड़न बंद हो जाएगा। मैं यह उम्मीद करता हूं कि सऊदी शहजादे थोड़ी मानवीयता का परिचय देते हुए लौजेन के खिलाफ मामले वापस ले लेंगे।

दूसरी ओर, ईरान का रवैया बताता है कि उसने नसरीन पर जुल्म और बढ़ा दिया है। एमनेस्टी इंटरनेशनल की रिपोर्ट है कि ईरान में पिछले साल विरोध प्रदर्शन करने वाले 7,000 लोगों को पकड़ा गया। ऐसे ही नसरीन की कुल 38 साल की कैद की सजा अगर जारी रखी जाती है, तो वहां हाल के वर्षों में किसी मानवाधिकारवादी को दी जाने वाली यह सबसे कठोर सजा होगी। ईरान के सरकारी मीडिया का कहना है कि नसरीन को कम ही सजा दी गई है। लेकिन ईरान में सरकार की तुलना में नसरीन और उसके परिवार की साख कहीं अधिक है। 'नसरीन को दी गई सख्त सजा बताती है कि ईरान उनकी बढ़ती लोकप्रियता से डर गया है', एमनेस्टी इंटरनेशनल के महासचिव कुमी नायडू ने, जो भारतीय हैं, मुझे बताया। उनका यह भी कहना है कि ईरान में महिलाओं के अधिकारों के लिए लड़ने वाली स्त्रियां अब बेहद साहसी हो गई हैं, और सिर ढकने वाले स्कार्फ को खुलेआम हवा में लहराकर विरोध जताती हैं। नसरीन के पति को भी विगत जनवरी में छह साल की कैद की सजा दी गई। उनका जुर्म यह है कि उन्होंने फेसबुक पर अपनी पत्नी पर हो रहे जुल्म के बारे में बताया। इनके दो बच्चे हैं, जिनमें से बेटी महरवाह उन्नीस साल की और बेटा नीमा चौदह साल का है। अब नसरीन के रिश्तेदारों पर दोनों बच्चों को पालने की जिम्मेदारी है। महरवाह और नीमा के लिए मेरा संदेश यह है : तुम्हारी मां नायिका हैं। वह पूरी दुनिया में अनेक लोगों को प्रेरणा देती रहती हैं, और कैद रखने से यह सच्चाई बदल नहीं जाएगी। लौजेन की तरह उन्हें इतिहास में नैतिकता की सीख देने के लिए याद रखा जाएगा। यह भी संभव है कि उन्हें नोबल पुरस्कार मिले, जो उनकी पहचान को और व्यापक करे और भावी पीढ़ी को बताए कि इन्होंने तानाशाहों से लोहा लेते हुए दुनिया को बदला।

पंद्रह सौ साल पहले जाने का यक्ष प्रश्न

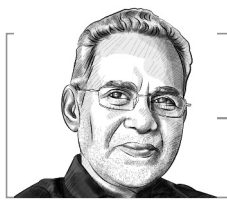

प्रदीप कुमार
वरिष्ठ पत्रकार

स्वभाव से गतिवान और परिवर्तनशील, मानव समाज क्या सैकड़ों साल पीछे जा सकता है? नए-नए रास्ते खोजते रहने की सहज मानव जिज्ञासा पर यांत्रिक ढंग से रोक लगाई जा सकती है? अगर अपने आस-पास के मुसलमानों से संपर्क है, तो एक बात पर गौर करें। पढ़े-लिखे या बराएनाम पढ़े-लिखे, मध्य वर्ग या निम्न वर्ग या अन्य कोई वर्ग हो, मुसलमानों के जत्थे तब्लीग पर निकलते हैं। तब्लीगी जमात से जुड़े शख्स गांवों-कस्बों में जाकर पाबंदी से इस्लाम पर अमल की तालीम देते हैं। अर्थात, मुसलमानों को पैगंबर मोहम्मद के समय के इस्लाम पर चलना चाहिए। इस लेखक की जहां तक जानकारी है, वे धर्म प्रचार के दौरान ऐसी कोई बात नहीं कहते, जिस पर एतराज हो या कानून का उल्लंघन होता हो। किसी भी धर्मानुयायी वर्ग की इस प्रकार की गतिविधियां हमारी बहस का मुद्दा क्यों बनें? तब्लीगी जमात एक यथार्थ है। लेकिन ऐसा कोई वैज्ञानिक अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है कि कितने फीसदी मुसलमान तब्लीगी जमात के मत से सहमत हैं अथवा उसके धर्म प्रचार का मुस्लिम समाज पर कितना असर पड़ रहा है। यह जरूर कहा जा सकता है कि वे सर्वथा नए व्यवहार का रास्ता बता रहे हैं। यह रास्ता सैकड़ों साल की व्यवहृत परंपराओं से मेल नहीं खाता। इन परंपराओं का एक विराट सर्वाग्रही, सर्वमान्य परंपरा के उत्तरोत्तर विकास में योगदान रहा है। भारत की सांविधानिक मान्यताओं और मूल्यों के रूप में इस परंपरा के दर्शन होते हैं। पंद्रह सौ साल पहले के इस्लाम के अनेक मूलभूत सिद्धांतों की प्रासंगिकता आज भी हैं, क्योंकि वे मूल्य शाश्वत हैं। लेकिन कई मुस्लिम देशों ने ही इस्लाम में मान्य 'इज्तिहाद' पर चलते हुए नई-नई परंपराओं को जन्म दिया है। दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी मुस्लिम आबादी, वह भी भारत जैसे बहुलतावादी लोकतांत्रिक देश में, अगर 'इज्तिहाद' से दूर हो जाए तो क्या होगा? भारतीय संविधान के तकाजे तब्लीगी इस्लाम के तकाजों से बिल्कुल अलग हैं। संभव है, पैगंबर के वक्त लागू हुए 'मीसाक-ए-मदीना' और शूरा की परंपराएं निर्बाध आगे बढ़तीं, तो इस्लाम प्रगतिशील, गतिवान समाजों को जन्म देता, अल्लामा इकबाल को *शिकवा* लिखने की जरूरत न पड़ती और न तब्लीगी जमातों का फैलाव होता। इस संबंध में मानवविज्ञानी, इस्लामी इतिहास के जानकार और फुलब्राइट स्कॉलर इन रेजिडेंस प्रो. नदीम हसनैन की किताब *मुस्लिम्स एट क्रॉसरोड्स : चेंजिंग फेस ऑफ लिव्ड इस्लाम* प्रासंगिक है। इस किताब में आशंका की यह अंडरकरेंट लगातार बनी रहती है : व्यवहृत (लिव्ड) इस्लाम का रूप अगर लगातार बदलता गया, तो व्यापक भारतीय समाज पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा?

कुछ दशकों में देवबंद में भी बदलाव आया है। जैसे कुल मिलाकर वे कश्मीर के मसले पर व्यापक समाज के साथ हैं। उनका स्पष्ट झुकाव सांविधानिक व्यवस्था की तरफ है।

प्रो.नदीम ध्यान आकृष्ट करते हैं कि जन्म- वैवाहिक रस्मों, पहनावा और त्योहारों आदि ने एक मिली-जुली संस्कृति को जन्म देकर मुसलमानों और अन्य के बीच सेतु का काम किया है। अब दक्षिण एशियाई इस्लाम और मुस्लिम जीवन का अरबीकरण हो रहा है। इसका नतीजा यह है कि धीरे-धीरे सर्वग्राही इस्लाम का स्थान शुद्धतावादी इस्लाम ले रहा है। शुद्धतावादी इस्लाम दृढ़तापूर्वक मानता है कि शरिया अपरिवर्तनशील है, कलाम पाक का भाष्य करने का अधिकार सिर्फ उलमा को है और सभी मानवीय समस्याएं हमेशा के लिए हल की जा चुकी हैं। इस धारा के मुताबिक आज मुसलमान जिस इस्लाम पर चल रहे है, वह रास्ता भटक चुका है, उसमें कई अशुद्धियां आ चुकी हैं और उसके शुद्धिकरण की आवश्यकता है। यह इज्तिहाद का नकार है, क्योंकि यह बदलते समय के अनुसार इस्लाम का भाष्य करते रहने की इजाजत देता है। इज्तिहाद का पूरा खात्मा और व्यवहृत इस्लाम में बुनियादी तब्दीली मुमकिन है? लोकतांत्रिक धारा उससे कितनी कमजोर होगी?

इस चिंता के बावजूद कुछ दिलचस्प तथ्यों पर ध्यान देते हैं। देवबंद वाले शुद्धतावादी इस्लाम के हिमायती हैं। लेकिन जब मुस्लिम लीग 'इस्लाम खतरे में' के नारे पर मुसलमानों को बरगला रही थी, देवबंद के मौलाना मुश्तरका कौमियत का सिद्धांत प्रतिपादित कर रहे थे। सिर्फ एक-दो उलमा ने लीग का साथ दिया था और बाद में पाकिस्तान चले गए थे। कुछ दशकों में देवबंद में भी बदलाव आया है। जैसे कुल मिलाकर वे कश्मीर के मसले पर व्यापक समाज के साथ हैं। आतंकवाद और उग्रवाद के खिलाफ भी वे मुखर हैं। भारत में उनका स्पष्ट झुकाव सांविधानिक व्यवस्था की तरफ है। इसके विपरीत पाकिस्तान में देवबंदी आतंकवादी धारा से जा मिलते हैं।

जटिलताओं को समझने के लिए एक और तथ्य सहायक हो सकता है। हरियाणा-राजस्थान के मुसलमान मेवातियों का व्यवहृत इस्लाम पूरे भारत नहीं, उत्तर भारत में ही अन्य क्षेत्रों के मुसलमानों से भिन्न रहा है। वे हिंदू रीति-रिवाजों पर अमल करते रहे हैं। 1947 में मेवातियों ने इस धरती को छोड़ने की सोची भी नहीं। लेकिन पिछले करीब दो-ढाई दशकों के दौरान मेवात में पुरानी रस्में काफी कमजोर हुई हैं। मेवात के मुसलमानों से पूछिए, वे बताएंगे कि यह क्रिया की प्रतिक्रिया है। मुजफ्फरनगर, हाशिमपुरा और खुफिया रिपोर्टों के मुताबिक आतंकवादियों के स्लीपिंग सेलों के बावजूद पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मुसलमानों में आज भी पुराना मिजाज, पुरानी सामाजिक परंपराएं खत्म नहीं हुई हैं। भारत के मुसलमानों का अरबीकरण-वहाबीकरण बड़े स्तर पर संभव है? यह समग्र हिंदू समाज में परिवर्तनों पर निर्भर है। अगर संविधान के शाश्वत मूल्य कमजोर होंगे, सांविधानिक तंत्र क्षीण होगा, राज्य सत्ता न्यायोचित मार्ग से हटेगी और विभिन्न वर्गों में परायापन बढ़ेगा,तो उसकी प्रतिक्रिया अवश्यंभावी होगी। आज तो हालत यह है कि अरबीकरण के स्रोत ताकतवर हैं। पुलवामा हमले के बाद पैदा हुई विस्फोटक स्थिति को नियंत्रित करने में सऊदी अरब और संयुक्त अरब अमीरात को बीच में आना पड़ा, तकनीकी तौर पर यह मध्यस्थता भले न हो। आयातित तेल पर निर्भरता, अरब जगत में लगभग साठ लाख भारतीय श्रमिकों की मौजूदगी और अरबों रुपये की आय, दक्षिण एशिया में सऊदी अरब के बढ़ते प्रभाव के साथ ही अगर भारत में आंतरिक स्थितियां विषम होंगी, तो वहाबीकरण भी बढ़ेगा।

एक क्रिकेट क्लब की जन्म शताब्दी

केकी तारापोर के शिष्यों में राहुल द्रविड़ जैसी उपलब्धि किसी और ने हासिल नहीं की। द्रविड़ अभी बीयूसीसी के मानद अध्यक्ष हैं। इसी महीने क्लब की स्थापना की एक शताब्दी पूरा होने पर जलसा हुआ, जिसमें अनेक पूर्व और वर्तमान टेस्ट खिलाड़ियों ने हिस्सा लिया।

रामचंद्र गुहा
जाने-माने इतिहासकार

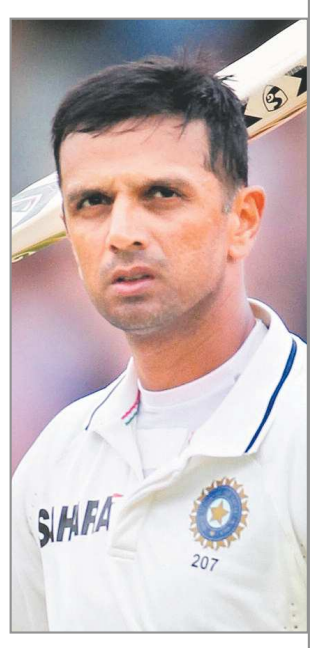

वर्ष 1992 में मैंने भारत के सर्वाधिक पसंदीदा खेल पर एक किताब प्रकाशित की थी। इस पर इसके एक समीक्षक और मुंबईकर राजदीप सरदेसाई ने खीझ कर टिप्पणी की, 'कर्नाटक के क्रिकेटरों के प्रति गुहा के प्रेम से लगता है कि यह कहीं एक और कावेरी विवाद का सबब न बन जाए।' इसके एक दशक बाद एक राष्ट्रीय अखबार में मैंने एक लेख में लिखा, भारत जीते या हारे इससे मुझे तब तक कोई फर्क नहीं पड़ेगा, जब तक कि द्रविड़ रन बनाते रहें और कुंबले विकेट लेते रहें। इस पर मुझे बड़ी संख्या में भारी नाराजगी भरी मेल मिलीं।

वास्तव में क्रिकेट के प्रति मेरी वफादारी के मामले में कर्नाटक राज्य दूसरे स्थान पर है। मेरी पहली प्रतिबद्धता बंगलुरू के फ्रैंड्स यूनियन क्रिकेट क्लब (एफयूसीसी) के प्रति है। मैंने 1966 में क्लब की सदस्यता ली थी, उस वक्त मैं आठ साल का था और उसके बाद से इसका समर्पित सदस्य बना हुआ हूं। यही नहीं, अब भी मैं साल में कई बार कर्नाटक राज्य क्रिकेट संघ के प्रथम श्रेणी क्रिकेट में अपने क्लब का खेल देखने जाता हूं। एफयूसीसी की स्थापना 1936 में हुई थी। बंगलुरू में हमारे क्रिकेट क्लब से पुराना एक और क्रिकेट क्लब है। यह है, बंगलोर यूनाइटेड क्रिकेट क्लब (बीयूसीसी), जिसकी स्थापना ठीक एक सदी पहले हुई थी। हमें सिखाया गया था कि हम बीयूसीसी और स्वास्तिक यूनियन को कट्टर प्रतिद्वंद्वियों की तरह देखें। स्वास्तिक के प्रति हमारी अदावत एकदम स्पष्ट थी। दूसरी ओर बीयूसीसी के प्रति हमारा नजरिया जरा विरोधाभासी था। बेशक, मैदान में हम उसे हमेशा हराना चाहते थे; इसके बावजूद क्लब के प्रेरणास्रोत केकी तारापोर के प्रति हमारा गहरा लगाव था।

बंगलुरू में हमारा पैतृक घर जयमहल एक्सटेंशन में था। उसी इलाके में सैयद मुज्तबा हुसैन किरमानी नाम के एक सज्जन रहते थे। मैं ऐसी कहानियां सुनते बड़ा हुआ कि कैसे केकी तारपोर ने पहली बार उनके लिए ग्लोव्स लाकर दिए, किस तरह से वह उन्हें बीयूसीसी ले गए और उन्हें टेस्ट खिलाड़ी बना दिया। केकी ने जिन अन्य भावी टेस्ट क्रिकेटरों को तराशा उनमें रोजर बिन्नी और सदानंद विश्वनाथ शामिल थे।

उल्लेखनीय है कि केकी तारपोर के शिष्यों में कई ऐसे खिलाड़ी भी थे, जिन्होंने बीयूसीसी की ओर से कभी नहीं खेला। जनवरी, 1994 में बंगलुरू ने भारत बनाम श्रीलंका के एक टेस्ट मैच की मेजबानी की। आम तौर पर यह माना जा रहा था कि युवा तेज गेंदबाज जवागल श्रीनाथ को अंतिम ग्यारह में शामिल किया जाएगा। श्रीनाथ ने उन्हीं दिनों ऑस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका के दौरों में शानदार गेंदबाजी की थी, यहां तक कि वह खुद और हम यह मानकर चल रहे थे कि अपने घरेलू मैदान में होने वाले पहले टेस्ट में वह जरूर खेलेंगे, क्योंकि वह एक अंतरराष्ट्रीय क्रिकेटर बन चुके हैं। यह दुखद था कि चयनकर्ता कुछ और ही सोच रहे थे। निस्संदेह श्रीनाथ नई गेंद से शुरुआत करने वाले भारत के सबसे शानदार गेंदबाज बन चुके थे; लेकिन कपिल देव और मनोज प्रभाकर कहीं अधिक काबिल बल्लेबाज भी थे और यह सोचा गया कि तीन स्पिनरों के साथ मैदान में उतरना अच्छा होगा। सो, श्रीनाथ को बारहवें खिलाड़ी के रूप में शामिल किया गया। मैंने वह मैच चिन्नास्वामी स्टेडियम के केएससीए के डायमंड बॉक्स से सटे पी2स्टैंड से देखा था। पहले दिन, जैसा कि भारत ने बल्लेबाजी की, मैंने देखा कि केकी तारापोर जब भी समय मिलता है श्रीनाथ से बात करने लगते हैं। उन्हें जितना जानता था, उस आधार पर मैं अंदाजा लगा सकता था कि उन्होंने उनसे क्या कहा होगा। उस विद्वान कोच ने युवा खिलाड़ी से कहा कि उसे अपनी हताशा को पीछे छोड़ देना चाहिए। उसका समय भी आएगा। और ऐसा हुआ भी। कुछ सालों के बाद अहमदाबाद में दक्षिण अफ्रीका के खिलाफ किसी भी भारतीय द्वारा घरेलू जमीन पर की गई सबसे घातक तेज गेंदबाजी करते हुए श्रीनाथ ने मैच जितवाया। मैं उम्मीद करता हूं कि केकी ने उनकी गेंदबाजी का आंकड़ा जरूर देखा होगा।

केकी तारापोर के शिष्यों में राहुल द्रविड़ जैसी उपलब्धि किसी और ने हासिल नहीं की। द्रविड़ अभी बीयूसीसी के मानद अध्यक्ष हैं। इसी महीने की शुरुआत में क्लब की स्थापना की एक शताब्दी पूरा होने पर जलसा हुआ था, जिसमें अनेक पूर्व और वर्तमान टेस्ट खिलाड़ियों ने हिस्सा लिया। इसमें बीयूसीसी के द्रविड़, किरमानी, बिन्नी, एस विश्वनाथ और के एल राहुल मौजूद थे और उनके साथ ही अनिल कुंबले, जी आर विश्वनाथ, वेंकटेश प्रसाद और करुण नायर जैसे खिलाड़ी भी थे, जो प्रतिद्वंद्वी क्लबों से जुड़े रहे हैं।

एफयूसीसी की ओर से जब मुझे संबोधित करने के लिए कहा गया, तो मैंने कहा कि मैं इससे तो इनकार नहीं कर सकता कि बीयूसीसी की स्थापना हमारे क्लब से पहले हुई, लेकिन मेरे क्लब की दो खूबियां थीं, जो उसके प्रतिद्वंद्वियों में नहीं थी। एक तो यह कि एफयूसीसी ने ऑफ स्पिनर वी एम मुद्दीह के रूप में कर्नाटक का पहला टेस्ट क्रिकेटर दिया। दूसरी बात यह है कि बीयूसीसी ने अपनी जन्म सदी पर क्लब की विशेष टाई डिजाइन करने के बारे में सोचा, लेकिन हमारा क्लब अपनी स्थापना की पचासवीं जयंती पर यह काम कर चुका है। उस शाम मैंने लाल और भूरे रंग की पट्टियों वाली वह टाई पहन रखी थी, जिसमें एफयूसीसी की कलगी लगी हुई थी। मैंने कहा कि मैं यहां बंगलुरू के एक छोटे और अपेक्षाकृत कम पहचान वाले क्लब का बखान करने के लिए नहीं, बल्कि उसकी ओर से एक पुराने और महान क्लब के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए आया हूं। कार्यक्रम स्थल के द्वार पर एक बोर्ड में बीयूसीसी के उन ग्यारह खिलाड़ियों के नाम अंकित थे, जिन्होंने देश का प्रतिनिधित्व किया। मैंने कहा कि बीयूसीसी के इन ग्यारह खिलाड़ियों में से दो 1983 में लॉर्ड्स में भारत का पहला विश्व कप क्रिकेट जीतने वाली टीम का भी हिस्सा थे। ये थे, सैयद किरमानी और रोजर बिन्नी। फिर मैंने कहा कि उस टीम में मुंबई के तीन खिलाड़ी भी थे, जो अपने गृह नगर के तीन भिन्न क्लबों की ओर से खेलते थे। बीयूसीसी की एक और महानता यह है, जैसा कि मैंने कहा कि, उसने सर्वकालिक भारतीय टेस्ट टीम के लिए दो खिलाड़ी भी दिए हैं। ये थे, राहुल द्रविड़ और सैयद किरमानी। इसके साथ ही मुझे कहना पड़ा कि इसके बाद मैं रांची में मुंह दिखाने लायक नहीं रह जाऊंगा।

बीयूसीसी शताब्दी समारोह ने भारतीय क्रिकेट की असली बुलंदियों, क्लब के कोचों और क्लब के सचिवों की अद्भुत ढंग से याद दिला दी, जिन्होंने इस देश के शहरों और कस्बों में खेल को बनाए रखा है। दिवंगत केकी तारापोर के हौसले ने उस शाम हम सबको तरोताजा कर दिया। बंगलुरू और अन्य जगह क्रिकेट का यह हौसला कायम रहे। केकी के हाथों से तराशे गए युवा अच्छे क्रिकेटर तो बने ही, उससे भी कहीं अधिक वे अच्छे इंसान भी बने।

पाठ्यक्रम के हाशिये पर दलित साहित्य

जैसे हिंदी साहित्य में दलित साहित्य के लिए गुंजाइश न के बराबर रखी गई, वैसे ही पाठ्यक्रम में दलित विमर्श को अलग रखा गया, जैसे गांव में दलितों की बस्ती बाहरी छोर पर होती है।

हाल में दिल्ली विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से एक सेमिनार में शामिल होने का सुयोग मिला। यह सेमिनार दलित रचना और उसके संदर्भ पर केंद्रित था। तीन दिन के इस सेमिनार में पूरा एक दिन हिंदी के लिए था, जिसमें पाठ्यक्रम की वर्तमान स्थिति, उसमें पठनीय रचनाओं को शामिल करने और सांस्कृतिक विविधता को समझने के लिए पाठयक्रम के परंपरागत ढांचे में सुधार कर नई जरूरतों और लोकतांत्रिक उद्देश्यों के अनुकूल बनाने पर जोर दिया गया।

श्यौराजसिंह बेचैन
प्रोफेसर
दिल्ली विश्वविद्यालय

वहां यह तथ्य निकलकर सामने आया कि अंग्रेजी के छात्र हिंदी की रचनाओं पर अधिक शोध कर रहे हैं। ऑक्सफोर्ड में अनुवादक-संपादक मिनी कृष्णन का मानना था कि अनुवाद भाषाओं का ही नहीं, संस्कृतियों का भी पुल बनाता है, पर कई बार अनुवादक पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर महत्वपूर्ण विषय को भी नजरंदाज कर जाते हैं। दलित साहित्य को विश्वविद्यालयों के पाठयक्रम में पढ़ाए जाने को लेकर प्रतिभागियों ने माना कि मातृभाषा में अधिक महत्वपूर्ण साहित्य रचा जाता है। हालांकि प्रगतिशील और आधुनिक होने का दावा करने के बावजूद सवर्ण साहित्यकार इस पर ध्यान नहीं देते कि बहिष्कृत जातियों की जीवन स्थितियों की अनदेखी करने से कितने जीवन अव्यक्त रह जाते हैं।

साहित्य सीधे कहीं क्रांति नहीं करता। हर साहित्य मानव कल्याण का माध्यम भी नहीं होता। इसके उलट साहित्य कई बार प्रतिक्रियावादी और पुरातनपंथी मानस भी तैयार करता रहा है। दुनिया में समय-समय पर साहित्य व्यवस्थाओं, संस्थाओं और मानव समुदायों के जीवन अनुभवों और स्थितियों को प्रगतिशील लोगों के दिलों तक उतार देता है। यह बात साहित्य के इतिहास का शोध करने वाले ही बता सकते हैं कि अफ्रीका-अमेरिका में अश्वेत दासों का क्रय-विक्रय जब रुका और उसके बाद भारत से जो गिरमिटिया मजदूर सूरीनाम, गुयाना, मॉरिशस में थोक के भाव भेजे गए, वे कौन थे, उनके पूर्वज कहां रहते थे, उनका साहित्य किसने लिखा? समाजवादी क्रांतियों में मजदूरों और सर्वहाराओं की सोच और चेतना का विकास जिस साहित्य से हुआ, उसकी वैचारिकता वैज्ञानिक क्यों थी? ऐसे ही भारत में स्वाधीनता की चेतना में वृद्धि करने का काम किस साहित्य ने किया?

साहित्य समाज की अभिव्यक्ति होता है। पूर्वजों ने साहित्य को समाज का दर्पण भी कहा है। इससे कोई असहमति नहीं। लेकिन भारत एक समाज नहीं है, न ही एक संस्कृति है। जीवन विविध हैं। तो विविध यानी अनेक दर्पण चाहिए। दलित जीवन बहिष्कृत जीवन और अस्पृश्य समाज है। जो सवर्ण साहित्यकार अस्पृश्यता भाव के कारण उनके पास तक नहीं गए, वे उनकी स्थितियों और मनोवृत्तियों को कैसे समझेंगे?

रवींद्रनाथ का हवाला देते हुए कहा गया कि उनके जैसे बड़े कवि भी दलितों का पक्ष नहीं लिख सके। रवींद्रनाथ ने खुद कहा है कि मैं उनके (दलितों के) आंगन तक भी नहीं जा सका, तो उनके घर या उनके मन की बात कैसे लिखता? परंतु मैं अपनी आंखें खोले, कान लगाकर इंतजार कर रहा हूं कि वे आएं और अपना सच बताएं। दलितों की दशा देखकर ही रवींद्रनाथ ने भारत को अभागा देश कहा था। पर जो लेखक दलितों के नजदीक थे या मार्क्स अथवा गांधी के विचारों के साथ बहिष्कृत भारत के पास पहुंचे थे, वे तो इनके साथ खड़े हो सकते थे। ऐसा नहीं हुआ। प्रेमचंद ने उपक्रम किया था। पर वह जाति के आग्रह और जमींदार की प्रशंसा कर मौका चूक गए।

भारत में आजादी की लड़ाई साहित्य के मोर्चे पर भी लड़ी गई थी। प्रगतिशील लेखकों ने लोकतांत्रिक मूल्यों का सम्मान किया। धर्मनिरपेक्षता का समर्थन और सांप्रदायिकता का विरोध कर उन्होंने अच्छी शुरुआत की। हिंदू-मुस्लिम संस्कृति को गंगा-जमनी तहजीब और मिली-जुली संस्कृति कहा गया। लेकिन तरक्कीपसंदों के उलट कट्टरपंथियों के लिए मंदिर-मस्जिद ही केंद्रीय मुद्दे बने रहे।

जातिभेद सांप्रदायिकता का ही एक रूप है। प्रगतिशील लेखन में सांप्रदायिकता का विरोध तो पुरजोर ढंग से हुआ, पर जातिभेद का वैसा विरोध नहीं हुआ। जैसे कि यह कोई समस्या ही नहीं है। न समाज में, न साहित्य में, और राजनीति में तो बिल्कुल ही नहीं। ऐसा क्यों हुआ? इसलिए कि उन प्रगतिशीलों की प्रगतिशीलता धनी सवर्णों तक सीमित थी। वहां दलित नहीं था, तो दलित का पक्ष भी नहीं था। यही स्थिति पाठयक्रम की रही। दलित और आदिवासियों का अनुभव जो उनकी रचनाओं में आ रहा था, जिसमें बहुसंख्य भारत समा रहा था, उसे कोई कोना भी तब तक नहीं मिला, जब तक दलित खुद वहां नहीं पहुंच गए। जेएनयू या बीएचयू के पुराने सिलेबस देखें, तो दलित साहित्य वहां नहीं मिलेगा। स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों के पाठयक्रम बनाने वालों ने साहित्य में प्रतिनिधित्व का सिद्धांत नहीं माना। उन्होंने कहा कि हिंदी दलित साहित्य मराठी की नकल है, दलित साहित्य में कला नहीं है, आदि-आदि। बहिष्कृत जातियों के लेखकों की जगह मार्क्सवादी साहित्य में नहीं थी। उन मार्क्सवादियों का कहना था कि दलितों को विषय बनाकर उन्होंने जो थोड़ा-बहुत दया भाव से लिख दिया है, उसके बाद अब दलित को खुद लिखने की क्या जरूरत? उनकी बात सुनकर मुझे गांव के वे दबंग याद आते, जो चुनाव के दिनों में बूथों पर कब्जा कर दलितों की बस्ती में आकर एलान कर देते थे कि तुम्हारे वोट पड़ चुके हैं, अब तुम्हें वोट डालने जाने की जरूरत नहीं है।

अब भी स्थिति अच्छी नहीं है। हिंदी साहित्य के तथाकथित नेताओं ने वैकल्पिक या स्वतंत्र दलित-आदिवासी अस्मिता के विमर्श को अलग रखने की व्यवस्था की है। जैसे गांव से बाहर दलितों की बस्ती, वैसे ही पाठ्यक्रम के हाशिये पर दलित साहित्य।